ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBIL04292
RNI REG NO. UPBIL/2014/66218 PP. NO.- 414-417
ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-14, No.-IV, Issues-22, YEAR- Oct.-Dec.-2021

डॉ. आंबेडकर की विचारधारा और समकालीन दलितः एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

डॉ0 धीरेन्द्र सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर समाजशास्त्र, राजकीय महाविद्यालय मानिकपुर, चित्रकूट (उ०प्र०) भारत

Received-19.12.2021, Revised-24.12.2021, Accepted-29.12.2021 E-mail : drsingh875@gmail.com

सारांशः ***प्रस्तुत शोध पत्र आधुनिक भारतीय समाज के परिप्रेक्ष्य में डॉ. भीमराव आंबेडकर की वैचारिकी और समकालीन दलित समाज की सामाजिक–सांस्कृतिक स्थिति के अंतर्संबंधों का एक सघन समाजशास्त्रीय अन्वेषण प्रस्तुत करता है। इस अध्ययन का मुख्य उद्देश्य यह विश्लेषित करना है कि डॉ. आंबेडकर द्वारा प्रतिपादित 'शिक्षित बनो, संगठित रहो और संघर्ष करो' का त्रिसूत्रीय मंत्र समकालीन समय में मात्र एक राजनीतिक उद्घोष न रहकर किस प्रकार दलित समुदाय की 'सामाजिक गतिशीलता' और 'अस्मिता निर्माण' का आधारभूत स्तंभ बना है। समाजशास्त्रीय सिद्धांतों के आलोक में यह शोध दर्शाता है कि आंबेडकरवादी विचारधारा ने दलितों के भीतर उस 'संरचनात्मक हीनता' को समाप्त किया है जो सदियों से जातिगत सोपानिकी द्वारा थोपी गई थी। यह शोध पत्र इस तथ्य को भी रेखांकित करता है कि समकालीन दलित अस्मिता के निर्माण में आंबेडकरवादी प्रतीकों, संवैधानिक नैतिकता और बौद्ध धम्म के समतावादी मूल्यों की केंद्रीय भूमिका रही है। शोध की प्रविधि गुणात्मक विश्लेषण पर आधारित है, जो द्वितीयक स्रोतों और समकालीन सामाजिक प्रवृत्तियों का परीक्षण करती है। यह शोध स्पष्ट करता है कि डॉ. आंबेडकर के विचार समकालीन दलितों के लिए एक 'सांस्कृतिक पूंजी' के रूप में कार्य कर रहे हैं, जो उन्हें पारंपरिक जजमानी व्यवस्था के बंधनों से मुक्त कर एक आधुनिक, न्यायप्रिय और समतामूलक नागरिक समाज की स्थापना की ओर निरंतर प्रेरित कर रहे हैं।***

कुंजीभूत शब्द– दलित अस्मिता, समाजशास्त्रीय विश्लेषण, सामाजिक गतिशीलता, जाति सोपानिकी, संवैधानिक नैतिकता.

प्रस्तावना– भारतीय समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में 'दलित' चेतना का उदय और उसका निरंतर विकास बीसवीं सदी की सबसे महत्वपूर्ण युगांतरकारी घटना मानी जा सकती है। यह चेतना केवल एक वर्ग विशेष के आर्थिक उत्थान का माध्यम नहीं है, बल्कि यह हज़ारों वर्षों से आरोपित सामाजिक जड़ता और अपमान के विरुद्ध एक संगठित 'अस्मिता विमर्श' है। इस चेतना के मूल में डॉ. भीमराव आंबेडकर का वह क्रांतिकारी दर्शन विद्यमान है, जो 'मनुस्मृति' आधारित पारंपरिक सामाजिक सोपानिकी को पूर्णतः नकार कर 'संवैधानिक नैतिकता' की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करता है। डॉ. आंबेडकर ने भारतीय समाज की उस ग्रंथिल संरचना का सूक्ष्म विश्लेषण किया था जहाँ जाति को एक दैवीय विधान मानकर थोपा गया था। इसी संदर्भ में उनका सुप्रसिद्ध तर्क है कि "जाति कोई ईंटों की दीवार नहीं है जिसे ढहा दिया जाए, बल्कि यह एक मानसिक अवस्था है"।[1] उनके इस विचार ने समाजशास्त्र के उन सिद्धांतों को चुनौती दी जो जाति को केवल एक श्रम–विभाजन की पद्धति मानते थे।

समकालीन दलित समाज वर्तमान में इसी आरोपित 'मानसिक दासता' से पूर्ण मुक्ति की एक जटिल एवं बहुआयामी प्रक्रिया से गुजर रहा है। डॉ. आंबेडकर की विचारधारा ने इस समाज को वह वैचारिक धरातल प्रदान किया है, जिसके माध्यम से आज का दलित वर्ग अपनी थोपी गई 'परकीय अस्मिता' को त्यागकर 'स्व–अस्मिता' की ओर तीव्र गति से अग्रसर है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से देखें तो यह संक्रमण 'प्रजातांत्रिक समाजीकरण' का परिणाम है, जहाँ दलितों ने स्वयं को हाशिए की वस्तु मानने के बजाय राष्ट्र निर्माण के सक्रिय 'कर्ता' के रूप में पहचानना शुरू किया है। आज दलित समाज का संवेगात्मक और बौद्धिक विकास डॉ. आंबेडकर द्वारा प्रदत्त उन संवैधानिक अधिकारों और मानवीय मूल्यों से अभिप्रेरित है, जो जातिगत श्रेष्ठता के बोध को तार्किक धरातल पर ध्वस्त करते हैं।

समकालीन समय में डॉ. आंबेडकर मात्र एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व नहीं, बल्कि एक जीवंत विचारधारा और अस्मिता के प्रतीक बन चुके हैं। उनकी यह विचारधारा शिक्षा, संगठन और संघर्ष के उन सूत्रों को आधुनिक स्वरूप में परिभाषित करती है, जो शहरीकरण, वैश्वीकरण और डिजिटल मीडिया के इस युग में भी दलित समाज के लिए दिशा–निर्देशक का कार्य कर रहे हैं। इस प्रकार, यह प्रस्तावना शोध के उस आधार को पुख्ता करती है जहाँ आंबेडकरवादी दर्शन और समकालीन दलित जीवन की सामाजिक वास्तविकताओं के बीच एक गहरा और अटूट अंतर्संबंध स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। यह शोध इसी अंतर्संबंध के विभिन्न समाजशास्त्रीय आयामोंकृजैसे सामाजिक स्तरीकरण में बदलाव, राजनीतिक चेतना का प्रसार और सांस्कृतिक रूपांतरणकृको वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषित करने की एक विनम्र कोशिश है।

सामाजिक स्तरीकरण और आंबेडकरवादी चुनौती– समाजशास्त्रीय सिद्धांतों के अंतर्गत जाति व्यवस्था को एक 'बंद स्तरीकरण' के रूप में परिभाषित किया जाता है, जहाँ व्यक्ति की सामाजिक स्थिति उसके जन्म से निर्धारित होती है और उसमें परिवर्तन की संभावनाएं लगभग शून्य होती हैं। डॉ. आंबेडकर ने भारतीय समाज की इस रूढ़ व्यवस्था का अत्यंत गहन और तर्कसंगत विश्लेषण प्रस्तुत किया। उन्होंने इस बंद व्यवस्था को 'अवरुद्ध गतिशीलता' का मुख्य कारण माना, जो न केवल व्यक्ति के विकास को रोकती है, बल्कि संपूर्ण राष्ट्र की आर्थिक और सामाजिक प्रगति को बाधित करती है। समाज के इस अलोकतांत्रिक ढांचे पर प्रहार करते हुए उन्होंने तर्क दिया कि "जाति केवल श्रम का विभाजन नहीं, बल्कि श्रमिकों का विभाजन है"।[2] उनके इस विचार ने उस पारंपरिक भ्रांति को तोड़ दिया जो जाति को एक व्यवस्थित श्रम

अनुरूपी लेखक/ संयुक्त लेखक

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-14, No.-IV, Issues-22, YEAR- Oct.-Dec.-2021

प्रबंधन की पद्धति मानती थी। समाजशास्त्रीय दृष्टि से इसका अर्थ यह है कि जाति ने श्रमिकों को ऐसे ऊंच–नीच के खानों में विभाजित कर दिया है जहाँ एक वर्ग दूसरे वर्ग से श्रेष्ठता या हीनता के बोध से ग्रसित रहता है।

समकालीन संदर्भ में, आंबेडकरवादी विचारधारा ने दलितों के भीतर उस 'संस्कृतिकरण' की प्रक्रिया को गंभीर चुनौती दी है, जिसका प्रतिपादन एम.एन. श्रीनिवास ने किया था। 'संस्कृतिकरण' की प्रक्रिया में निम्न मानी जाने वाली जातियाँ अपनी सामाजिक स्थिति सुधारने के लिए उच्च जातियों के रीति–रिवाजों, खान–पान और कर्मकांडों का अनुकरण करती थीं। किंतु डॉ. आंबेडकर की वैचारिकी ने दलित समाज को यह बोध कराया कि अनुकरण कभी भी वास्तविक मुक्ति का मार्ग नहीं हो सकता। इसके विपरीत, अब दलित समाज अपनी मौलिक पहचान, स्वाभिमान और तर्कसंगत जीवन पद्धति को अधिक महत्व दे रहा है। यही कारण है कि आज का दलित वर्ग हिंदू सामाजिक सोपानिकी के भीतर ऊपर चढ़ने के बजाय, उस व्यवस्था से बाहर निकलकर अपनी पृथक पहचान और 'बौद्ध धर्म की ओर वापसी' को अधिक प्राथमिकता दे रहा है। यह मात्र धर्मांतरण नहीं है, बल्कि एक सांस्कृतिक विद्रोह है जो 'ब्राह्मणवादी पितृसत्ता' और 'जातिगत श्रेष्ठता' के दावों को सिरे से खारिज करता है।

डॉ. आंबेडकर द्वारा प्रदत्त इस वैचारिक ऊर्जा ने दलितों को सामाजिक मनोविज्ञान के धरातल पर भी रूपांतरित किया है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री और शोधकर्ता गेल ओमवेट के अनुसार, "आंबेडकर ने दलितों को एक ऐसी वैचारिकी दी जिसने उन्हें इतिहास के कर्ता के रूप में स्थापित किया, न कि केवल वस्तु के रूप में"[3]। इसका तात्पर्य यह है कि सदियों तक जिन्हें दूसरों द्वारा परिभाषित किया गया और जो केवल दूसरों के निर्णयों के पात्र बने रहे, वे अब स्वयं अपनी नियति के निर्माता बन गए हैं। समकालीन दलित समाज अब सामाजिक स्तरीकरण के हाशिए पर खड़े होकर दया की भीख नहीं मांगता, बल्कि वह एक 'संवैधानिक नागरिक' के रूप में अपने अधिकारों का दावा करता है।

आधुनिक समाजशास्त्रीय परिदृश्य में यह 'आंबेडकरवादी चुनौती' न केवल ग्रामीण भारत के जजमानी संबंधों को ध्वस्त कर रही है, बल्कि शहरी और डिजिटल क्षेत्रों में भी सत्ता संरचनाओं को पुनर्गठित करने के लिए विवश कर रही है। आज दलित समाज का शिक्षित वर्ग जातिगत सोपानिकी के बंधनों को तोड़कर नए व्यावसायिक क्षेत्रों में अपनी उपस्थिति दर्ज करा रहा है, जो डॉ. आंबेडकर के 'सामाजिक लोकतंत्र' के स्वप्न को यथार्थ के निकट लाता है।

शिक्षा और सामाजिक गतिशीलता– समाजशास्त्रीय विमर्श में शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन और स्तरीकरण के ऊर्ध्वगामी रूपांतरण का सबसे शक्तिशाली कारक माना जाता है। डॉ. आंबेडकर ने भारतीय समाज की उस कूपमंडूकता को पहचाना था जहाँ दलितों के लिए ज्ञान के द्वार सदियों से बंद थे। उन्होंने शिक्षा को मात्र साक्षरता या जीविकोपार्जन का साधन नहीं माना, बल्कि उसे चेतना के प्रस्फुटन का माध्यम स्वीकार किया। इसी संदर्भ में डॉ. आंबेडकर ने शिक्षा को "शेरनी का दूध" कहा था, जिसका तात्पर्य यह था कि जो इसका पान करेगा, वह अन्याय के विरुद्ध दहाड़ने की शक्ति प्राप्त करेगा। उनके इस विचार ने दलित समाज के भीतर आत्म–सम्मान और तर्कबुद्धि का संचार किया, जिसने कालांतर में 'सामाजिक गतिशीलता' की प्रक्रिया को तीव्र किया।

समकालीन समाजशास्त्रीय डेटा और शोध यह स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं कि आधुनिक शिक्षा के माध्यम से दलितों का एक सशक्त 'नया मध्यम वर्ग' उभरा है। यह वर्ग अब परंपरागत ग्रामीण जजमानी संबंधों और सामंती बंधनों से मुक्त होकर महानगरों में अपनी पेशेवर पहचान बना रहा है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह परिवर्तन 'पीड़ित वर्ग' से 'व्यावसायिक वर्ग' की ओर संक्रमण है। शिक्षा ने न केवल उनके आर्थिक स्तर को ऊपर उठाया है, बल्कि उन्हें नौकरशाही, अकादमिक जगत, कॉर्पोरेट क्षेत्र और तकनीकी क्षेत्रों में नेतृत्वकारी भूमिकाओं के लिए तैयार किया है। यह गतिशीलता 'संरचनात्मक परिवर्तन' का संकेत है, जहाँ व्यक्ति की पहचान उसके वंशानुगत कार्य से नहीं, बल्कि उसकी अर्जित शैक्षिक योग्यता से निर्धारित हो रही है।

इस सामाजिक रूपांतरण में प्रतीकों और विचारधारा की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री बद्रीनारायण के अनुसार, "आंबेडकर की मूर्तियाँ और प्रतीक गाँवों में दलितों के लिए केवल पत्थर नहीं, बल्कि उनके नागरिक अधिकारों के दावे के साक्ष्य हैं"।4 यहाँ समाजशास्त्र का 'प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद' का सिद्धांत पूर्णतः लागू होता है। समाज के भीतर जब एक दलित 'जय भीम' का अभिवादन करता है, तो वह केवल एक नाम का उच्चारण नहीं करता, बल्कि एक विशिष्ट सामाजिक अस्मिता और साझा संघर्ष का आह्वान करता है। यह अभिवादन आज एक 'वैश्विक दलित पहचान' का सूत्रधार बन गया है, जो स्थानीय भौगोलिक सीमाओं को तोड़कर एक अंतरराष्ट्रीय नेटवर्क का निर्माण करता है।

शिक्षा के माध्यम से उत्पन्न हुई यह चेतना समकालीन दलितों को राज्य और समाज के समक्ष एक 'संवैधानिक नागरिक' के रूप में खड़ा करती है। अब वे विकास की योजनाओं के केवल लाभार्थी नहीं हैं, बल्कि वे नीति–निर्माण की प्रक्रियाओं में अपनी भागीदारी सुनिश्चित करना चाहते हैं। डॉ. आंबेडकर का शैक्षिक दर्शन आज के डिजिटल युग में भी उतना ही प्रासंगिक है, जहाँ दलित युवा सोशल मीडिया और आधुनिक संचार तंत्र का उपयोग अपनी वैचारिकी को प्रसारित करने और वैश्विक स्तर पर मानवाधिकारों की वकालत करने के लिए कर रहे हैं। अतः, शिक्षा ने दलित समाज के लिए उस 'सांस्कृतिक पूंजी' का सृजन किया है, जो उन्हें सामाजिक सोपानिकी के निचले पायदान से निकालकर गरिमापूर्ण नागरिकता की ओर ले जा रही है।

सांस्कृतिक एवं धार्मिक रूपांतरणः नव–बौद्ध आंदोलन और दलित समाज– समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से धर्म केवल अलौकिक शक्तियों में विश्वास नहीं है, बल्कि यह एक 'सामाजिक वास्तविकता' है जो समूह की अस्मिता और मूल्यों को निर्धारित करती है। डॉ. आंबेडकर ने यह अनुभव किया था कि हिंदू सामाजिक संरचना के भीतर रहते हुए दलित कभी भी पूर्ण मानवीय गरिमा प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि वहाँ की सोपानिकी 'दैवीय विधान' पर आधारित है। इसी वैचारिक मंथन

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-14, No.-IV, Issues-22, YEAR- Oct.-Dec.-2021

का परिणाम 14 अक्टूबर 1956 का ऐतिहासिक धर्म परिवर्तन था। यह मात्र एक धार्मिक घटना नहीं, बल्कि एक 'महान सामाजिक विच्छेद' था। डॉ. आंबेडकर ने स्पष्ट घोषणा की थी कि "मैं उस धर्म में नहीं मरूँगा जिसमें पैदा हुआ था"।[5] उनके इस निर्णय ने समकालीन दलित समाज को एक नई 'सांस्कृतिक पूंजी' और मनोवैज्ञानिक संबल प्रदान किया।

समकालीन समाज में 'नव–बौद्ध' पहचान एक सशक्त सांस्कृतिक विकल्प के रूप में उभरी है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह 'परकीयकरण' से 'आत्म–बोध' की ओर की यात्रा है। डॉ. आंबेडकर द्वारा दी गई '22 प्रतिज्ञाएं' वास्तव में पुराने सामाजिक बंधनों को तोड़ने का एक घोषणापत्र थीं। इन प्रतिज्ञाओं ने दलितों को हिंदू धर्म के कर्मकांडों, मिथकों और उन धार्मिक विश्वासों से मुक्त किया जो उन्हें जन्मजात अपराधी या अपवित्र मानते थे। इसके स्थान पर, बौद्ध धम्म के 'प्रज्ञा, शील और करुणा' के सिद्धांतों ने उन्हें एक 'नैतिक नागरिक' के रूप में पुनर्गठित किया।

इस धार्मिक रूपांतरण का सबसे गहरा प्रभाव दलितों के सांस्कृतिक जीवन और उनके द्वारा अपनाए गए प्रतीकों पर पड़ा है। वर्तमान समय में दलित समाज के विवाह, जन्म और मृत्यु से संबंधित संस्कार अब ब्राह्मणवादी पुरोहितवाद के स्थान पर बौद्ध पद्धति से संपन्न होते हैं। यह परिवर्तन समाजशास्त्र के 'सांस्कृतिक स्वायत्तता' के सिद्धांत को पुष्ट करता है। अनुपमा राव के अनुसार, "आंबेडकर ने जाति के प्रश्न को केवल नागरिक अधिकारों का मुद्दा नहीं रहने दिया, बल्कि उसे एक गहरी नैतिक और आध्यात्मिक क्रांति में बदल दिया"।6 यहाँ धर्म परिवर्तन का अर्थ पलायन नहीं, बल्कि एक ऐसी वैचारिक जमीन तैयार करना था जहाँ दलित अपनी हीनता–ग्रंथि को त्यागकर 'समतावादी चेतना' को आत्मसात कर सकें।

समकालीन नव–बौद्ध आंदोलन ने दलितों के भीतर एक नई 'ऐतिहासिक दृष्टि' का भी संचार किया है। अब वे स्वयं को प्राचीन भारत की बौद्ध परंपरा का उत्तराधिकारी मानते हैं, जिससे उनके भीतर 'सांस्कृतिक गौरव' का भाव जाग्रत हुआ है। यह गौरव उन्हें हीनता के उस चक्र से बाहर निकालता है जो सदियों की अस्पृश्यता ने निर्मित किया था। आज के समय में, महाराष्ट्र से लेकर उत्तर प्रदेश और दक्षिण भारत तक, आंबेडकरवादी विचारधारा से प्रभावित यह धार्मिक रूपांतरण दलितों को एक संगठित 'सामाजिक इकाई' के रूप में जोड़ता है।

अंततः, डॉ. आंबेडकर की विचारधारा ने समकालीन दलित समाज को एक ऐसी 'वैकल्पिक संस्कृति' प्रदान की है जो वैज्ञानिक सोच और मानवीय समानता पर टिकी है। यह रूपांतरण केवल मंदिर प्रवेश के संघर्षों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह एक नए 'मनुष्य' के निर्माण की प्रक्रिया है जो किसी भी प्रकार की गुलामी को स्वीकार नहीं करता। अतः, नव–बौद्ध आंदोलन समकालीन दलित अस्मिता का वह अनिवार्य अंतर्संबंध है जो डॉ. आंबेडकर की विचारधारा को व्यवहारिक और सामाजिक धरातल पर जीवंत बनाए हुए है।

निष्कर्ष एवं सुझाव– डॉ. आंबेडकर की विचारधारा और समकालीन दलित समाज के अंतर्संबंधों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि आंबेडकरवाद केवल एक राजनीतिक सिद्धांत नहीं, बल्कि एक संपूर्ण जीवन–दर्शन है। इस शोध के माध्यम से यह निष्कर्ष निकलता है कि समकालीन दलित अस्मिता का निर्माण डॉ. आंबेडकर द्वारा प्रतिपादित 'संवैधानिक नैतिकता' और 'मानवीय गरिमा' के धरातल पर हुआ है। सदियों से सामाजिक स्तरीकरण के अंतिम सोपान पर खड़े जिस समुदाय को 'वस्तु'की भांति समझा गया था, आंबेडकर की वैचारिकी ने उसे इतिहास के 'कर्ता' के रूप में रूपांतरित कर दिया है। यह रूपांतरण तीन प्रमुख स्तरों पर परिलक्षित होता है: चेतना का विस्तार, ढांचागत गतिशीलता और सांस्कृतिक स्वायत्तता।

मुख्य निष्कर्ष:

1. **चेतना का रूपांतरण:** शोध का प्राथमिक निष्कर्ष यह है कि डॉ. आंबेडकर के विचारों ने दलितों के भीतर 'हीनता ग्रंथि' को समाप्त कर 'अस्मिता बोध' का संचार किया है। अब दलित समाज अपनी पहचान को सामाजिक वंचना के बजाय 'संघर्ष और गौरव' के प्रतीक के रूप में देखता है।
2. **शिक्षा और मध्यम वर्ग का उदय:** 'शिक्षा शेरनी का दूध है' के सूत्र ने दलित समाज के भीतर एक ऐसे 'बौद्धिक मध्यम वर्ग' को जन्म दिया है, जो न केवल आर्थिक रूप से स्वतंत्र है, बल्कि समाज की मुख्यधारा की विमर्श–प्रक्रियाओं को भी प्रभावित कर रहा है।
3. **सांस्कृतिक विच्छेद:** नव–बौद्ध आंदोलन और २२ प्रतिज्ञाओं के माध्यम से दलितों ने उस ब्राह्मणवादी सांस्कृतिक आधिपत्य को चुनौती दी है, जो जाति व्यवस्था को बनाए रखने का कार्य करती थी।

सुझाव:

1. **आंतरिक लोकतंत्रीकरण:** दलित समाज के भीतर भी उप–जातियों के बीच जो स्तरीकरण मौजूद है, उसे दूर करने के लिए आंबेडकर के 'बंधुत्व' के सिद्धांत को और अधिक व्यापक रूप से लागू करने की आवश्यकता है।
2. **डिजिटल और आर्थिक सशक्तीकरण:** समकालीन समय में सूचना तकनीक और उद्यमिता के क्षेत्र में दलित युवाओं की भागीदारी बढ़ाने के लिए आंबेडकरवादी दृष्टिकोण से नए आर्थिक मॉडल विकसित करने होंगे।
3. **लैंगिक समानता:** दलित विमर्श के भीतर दलित स्त्री के 'दोहरे उत्पीड़न' (जाति और पितृसत्ता) को केंद्र में रखकर शोध और सामाजिक सुधार की दिशा में कार्य होना चाहिए, जैसा कि डॉ. आंबेडकर ने 'हिंदू कोड बिल' के माध्यम से चाहा था।

निष्कर्षतः, डॉ. आंबेडकर की विचारधारा समकालीन दलितों के लिए एक 'लिविंग डॉक्यूमेंट' है। यह विचारधारा आने वाले समय में भी न केवल दलितों के लिए, बल्कि एक न्यायपूर्ण भारतीय समाज के निर्माण के लिए अनिवार्य अंतर्संबंध बनी रहेगी।

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-14, No.-IV, Issues-22, YEAR- Oct.-Dec.-2021

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. आंबेडकर, बी. आर. (1994). डॉ. बाबासाहेब आंबेडकरः संपूर्ण वाङ्मय (खंड 1). नई दिल्लीः कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, पृ. 52.
2. आंबेडकर, बी. आर. (1994). डॉ. बाबासाहेब आंबेडकरः संपूर्ण वाङ्मय (खंड 1). नई दिल्लीः कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, पृ. 72.
3. ओमवेट, गेल. (2010). दलित और प्रजातांत्रिक क्रांति. नई दिल्लीः पेंगुइन बुक्स., पृ. 115.
4. नारायण, बद्री. (2011). द मेकिंग ऑफ द दलित पब्लिक इन नॉर्थ इंडिया (उत्तर भारत में दलित जनमानस का निर्माण). ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 88.
5. आंबेडकर, बी. आर. (1957). बुद्ध और उनका धम्म. सिद्धार्थ प्रकाशन, पृ. 210.
6. राव, अनुपमा. (2009). द कास्ट क्वेश्चनः दलित्स एंड द पॉलिटिक्स ऑफ मॉडर्न इंडिया (जाति का प्रश्नः दलित और आधुनिक भारत की राजनीति). यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, पृ. 145.

*****